बेचैन शहर

वाक़्या शहर में कल तो कोई ऐसा न हुआ
ये तो अख़बार के दफ़्तर की ख़बर लगती है
- जाँ निसार अख़्तर

निजी अनुभवों और रुटीनी ज़िन्दगी में शहर वैसे तो बेचैन, उनींदी बदहवासी का पर्याय ही है, पर पूरा शहर कब बेचैन हो उठता है, भला! अपराध चैनलों की रोज़ाना की बेज़ायक़ा प्रस्तुतियों की गवाही न भी लें, तो भी, एक जुमले में, जब उसकी नींद मीडिया की सुर्ख़ियाँ उड़ा ले जाती हैं। पर मीडिया का सुरमा चंद्र-ग्रहण कब बनता है? जब महानगर में बाढ़ जैसा अनपेक्षित हो जाए, जिससे निबटने में वहाँ के भूमिपुत्र निहायत निस्सहाय हो जायें, जब अधुनातन औज़ारों और लक़दक़ से लैस शहर को मध्यकाल की याद दिलाती हुई प्लेग या सार्स जैसी महामारी लपेट ले, और जिससे लड़ते हुए सरकार राष्ट्र का परम विशिष्ट पदक पाने की चेष्टा करने लगे? जब शहर की झुग्गी-झोपड़ियाँ चंद नज़रों को खटकने लगें, जब पानी और बिजली की क़िल्लत आदत में तब्दील होने लगे, जब आलू-प्याज़ पेड़ की डालियों पर बैताल की मानिंद जा लटकें, जब दूर-दराज़ से सत्ता-केन्द्र पर दस्तक देने आनेवाले रैलार्थी या फिर स्थानीय श्रद्धालु जुलूसार्थी दैनंदिन यातायात को ठप कर दें, और रहगुज़ारी की दिक़्क़तें एहतियाती जानकारियों के रूप में एफ़ एम चैनलों से रिले होने लगें। जब दिल्ली का चोर-बाज़ार या बुक मार्केट दरियागंज के अगवाड़े से राजघाट के पिछवाड़े में ठेल दिए जाने की आशंकाओं से घिर जाये, जब सिनेमा हॉल में आग लग जाये या बम फट पड़े, सड़क पर सोनेवालों या राह चलती महिलाओं की तो बात ही क्या करना, जब पार्लियामेंट ही असुरक्षित लगने लगे, जब उस असुरक्षा का निदान अँधेरे में तीर चलाकर ढूँढा जाये, जब प्रधानमंत्री की हत्या का सबक़ पूरी क़ौम को सिखाने की मुहिम चला कर दी जाए, कर्फ़्यू लग जाये और पीढ़ियाँ इंसाफ़ की गुहार करती रह जायें और उनसे माफ़ी माँगने में प्रधानमंत्री को बरसों लग जायें...

यह ज़ंजीर ज़ाहिरा तौर पर अपूर्ण और असमाप्त है। इसको माज़ी और मुस्तक़बिल के लघु या महासंकटों के ज़िक्र से पूरा किया जाता रहेगा, लेकिन शहर का सर्वव्यापी जैसा लगता संकट भी सब को एक जैसा प्रभावित नहीं करता, न ही हर विपत्ति सभी शहरियों को यकसाँ बेचैन करती है। विषम शहर की बेचैनियाँ भी ज़रूरी तौर पर विषम होंगी। मिसाल के तौर पर मंकीमैन को ही लें। निजी गार्ड-रक्षित दैत्याकार लौहद्वारों और अलंघ्य चौहद्दियों से महफ़ूज़ मध्यवर्गीय बाशिंदों को शायद मंकीमैन की घटना पर हँसी भी आई हो, लेकिन गर्दो-ग़ुबार हटाकर देखें तो इस शहरी किंवदंती पर हुई तमाम चर्चा-परिचर्चा में शहर की इसी विविधता-विषमता की दबी-ढँकी परतें मिलेंगी हमें। शहर में उजाले के विषम बँटवारे से लड़ने के सबॉल्टर्न हथियार भी कितने उर्वर, और रचना-वैचित्र्य के कैसे नमूने हैं। वैसे ही, जैसे स्वच्छता की दावेदारी ठोकनेवालों के सामने 'प्रदूषकों' की रोज़ी-रोटी का मसला मुश्किल नैतिक सवाल और बहस छोड़ जाता है, भले ही बाद में साफ़ हवा में साँस लेना सबको अच्छा लगने लगा हो। हिंसा पर वैसे तो शहर की कोई इजारेदारी नहीं है, पर हिन्दुस्तानी फ़िल्में देखें तो हलिया दौर में एक तरफ़ अंडरवर्ल्ड तो दूसरी तरफ़ सामाजिक हिंसा व आक्रोश की कथा-छवियों की आवृत्ति व संश्लिष्टता बढ़ी है। सामाजिक ग़ुस्से की ऐंग्री यंग मैन वाली व्यक्तिपरक व निजी अभिव्यक्ति उसी तरह नाकाफ़ी हो गई है, जैसे नैतिकता के गुज़रे ज़माने के सफ़ेद-स्याह मानदंड। डी-कंपनी कन्हैयालाल तो नहीं चला सकते न! न ही सत्या पहले हो सकता था। सत्या जो अपनी जड़ों से, सामाजिक सरोकारों से आज़ाद है, सत्या, हिंसा जिसके लिए ज़िन्दगी की शर्त और काम है, बस। ख़बरी मुखपृष्ठ से हमेशा बाहर रहनेवालों की नज़रों से शहर के अदृश्य पड़ोस का क्या सब, और कैसा दिखता है, पता करना हो, तो सायबारमोहल्ला डायरियाँ पलटें।

रविकांत + संजय शर्मा